❑ डॉ० किरण सिपानी

अपने ही घर में किसी दूसरे घर के हम हैं

तेजी से बदलता विश्व-परिदृश्य एक ओर तो संभावनाओं के नित नये द्वार खोल रहा है और दूसरी ओर नये विश्वविद्यालयों एवं शिक्षण-संस्थानों के माध्यम से व्यावसायिक, तकनीकी, इंजीनियरी, कृषि एवं विज्ञान संबंधी नवीन पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की गयी है। खुले विद्यालयों के तहत मुख्यधारा से कटे एवं समस्याग्रस्त विद्यार्थियों को शिक्षा की सुविधाएँ दी जा रही हैं। नारी शिक्षा एवं प्रौढ़ शिक्षा से संबंधित उल्लेखनीय प्रयास किये गये हैं। विदेशों में अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ सुलभ हुई हैं। परन्तु इतने विकास के बावजूद शिक्षा सामाजिक, नैतिक, मानवीय एवं आध्यात्मिक सरोकारों से दूर होती जा रही है। विद्यार्थियों में अकेलापन, कुंठा, असुरक्षा एवं भय की भावनाएँ घर कर रही हैं। हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ रही है और बुरी आदतें पनप रही हैं। जीवन अधिक बोझिल, अधिक उच्छृंखल और जटिल हो गया है। गुणवत्ता का स्थान विस्तार ने ले लिया है। पूरा विश्व शिक्षा की समस्याओं और समाधानों में विचारमग्न है।

सभी शिक्षाविदों की मान्यता है कि 'सा विद्या या विमुक्तये'– विद्या व्यक्ति को सीमाओं से मुक्त करती है। विद्या की परमार्थकरी एवं अर्थकरी रूप उसके विभिन्न लक्ष्यों को स्पष्ट करते हैं। परमार्थकरी विद्या का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्त कराना ही नहीं बल्कि विद्यार्थियों के व्यक्तित्व, चरित्र एवं उनके मानसिक-आध्यात्मिक विकास को भी परिधि में समेटना है। आध्यात्मिक और नैतिक विकास से ही जीवन मूल्यों की रक्षा हो सकती है। अर्थकरी विद्या आजीविका से जोड़ती है, कर्मक्षेत्र में स्वयं को प्रमाणित करने के अवसर देती है। आज की शिक्षा में परमार्थकरी रूप आँख की ओट हो गया है, अर्थकरी उद्देश्य हावी हो गया है। संपूर्ण विश्व अर्थ और शक्ति की क्रीड़ा में आनंदमग्न है। हर क्षेत्र चाहे वह शिक्षा का ही क्यों न हो, 'पावर' और 'मनी' से जुड़ गया है। आजीविका से जुड़े पाठ्यक्रमों (जॉब ओरिएण्टेड कोर्सेज़) की धूम मची है। शिक्षा के परम्परागत विषय साहित्य, दर्शन, इतिहास एवं भाषाशास्त्र आदि बाजार की परिभाषा पर खोटे उतर रहे हैं।

शिक्षा के प्रतिमान बदल गये हैं। पहले जहाँ श्रेष्ठता कसौटी थी, आज पैसे न आसन खिसका लिया है। प्रतिभासम्पन्न को अंगूठा दिखाते हुए कम अंक पाने वाला धनाढ्य विद्यार्थी उच्च शिक्षा के अवसरों को अपने लिए सुलभ बना लेता है और अब तो बाँहें फैलाकर आमंत्रण देते बाजारवाद ने सबको पीछे धकेल दिया है। क्रेडिट पर पढ़िए, प्रतिभा को बंधक रखिये, कैरियर बनाइये और उधार चुकाइये। मीठी आवाज में पुकार-पुकार कर अपने प्रलोभनों में फाँसते नित नये इन्स्टीच्यूट गली-कूचों में उग रहे हैं। क्या मजाल कि आप सोने और पीतल में फर्क कर पायें। अच्छे से अच्छे, बड़े से बड़े स्कूल-कॉलेज में चेक बुक लेकर पीछे के दरवाजे से घुसने की सहूलियत हो गयी है। बड़े कदों के स्कूल-कॉलेज-इन्स्टीच्यूट में पढ़नेवालों की डिग्रियों की कीमत कई गुना बढ़ जाती है और विवाह-बाजार में डिमांड भी ऊँची हो जाती है। मान्यता प्राप्त विद्यालयों से सांठ-गांठ कर कई निजी (प्राइवेट) विद्यालय लाखों कमा रहे हैं। शिक्षा तंत्र में पनपती इस माफिया संस्कृति के षड़यन्त्रों के कारण परीक्षा न दे पानेवाले विद्यार्थियों की खबरों से अखबार के पन्ने रंग रहते हैं।

परीक्षा को अनिवार्य बुराई मानते हुए भी शिक्षाविद् इसका कोई विकल्प नहीं खोज पाये हैं। परीक्षार्थी बनने में ही विद्यार्थी को अपना मोक्ष नजर आ रहा है। परीक्षोपयोगी प्रश्नों के 'नोट्स' ही अध्ययन-अध्यापन का काम्य हो उठे हैं। जो शिक्षक 'नोट्स' नहीं दे सकता वह पुराणपंथी (आउटडेटेड) मान लिया जाता है। ऊँची फीस लेनेवाले ट्यूशनी शिक्षक पूजनीय हैं। एक ही ढाँचे में ढ़ले उत्तर परीक्षक के लिए काफी सुविधाजनक होते हैं–एक जैसा माल, एक जैसी जाँच! बिना फीस लिए पढ़ाने वाला शिक्षक मन्दबुद्धि, दयापात्र एवं त्याज्य होता है। फीस लिए बिना भला कहीं बुद्धि का द्वार खुलता है? परीक्षा और अध्ययन-अध्यापन का यह मेल कितना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थपूर्ण होता है– इसी संदर्भ में बाबा तुलसीदास की पंक्तियाँ याद आ रही हैं :–

''गुरु सिस अंध-बधिर का लेखा
एक न सुनइ एक नहिं देखा।''

नोट्स जीरोक्स करवाने के चलन ने विद्यार्थियों का अपकार ही किया है। जीरोक्स के माध्यम से अपना समय बचाकर कुछ ही क्षणों में नोट्स की प्रतिलिपियाँ (कॉपीज़) – ज्ञान के पन्ने संचित कर विद्यार्थी बहुत प्रसन्न होते हैं। पहले अपने हाथ से उतारने के कारण विद्यार्थियों को विषय-वस्तु की एक झलक मिल जाती थी। लिखते रहने के अभ्यास के कारण उनके लिखने की गति भी तीव्र हो जाती थी। अक्षरों को सुडौल बनाने के अवसर भी उन्हें सहज सुलभ हो जाते थे, वर्तनी की अशुद्धियाँ भी कम होती थीं। इधर वर्तनी की अशुद्धियों की बाढ़ आ गयी है, चाहे लिखनेवाला ऑनर्स का विद्यार्थी ही क्यों न हो। लिखने की गति धीमी होने के कारण अक्सर विद्यार्थी प्रश्नपत्र के सम्पूर्ण उत्तर नहीं लिख पाते।

अनियमित परीक्षाएँ, वर्ष-दर-वर्ष मनमाने परीक्षकों का चुनाव, मनचाहे स्कूल-कॉलेजों की उत्तर-पुस्तिकाओं के प्रति पक्षपात आदि तरह-तरह के आरोपों से घिरी परीक्षा-प्रणाली आडम्बर बनकर रह गयी है। अधिकांश परीक्षा-कक्षों में विद्यार्थियों को उन्मुक्त साँस लेने, हाथ-पांव-गर्दन हिलाने एवं लघुशंका निवारण की बेलगाम लम्बी छूट सिद्ध करती है कि स्वतंत्रता उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। परीक्षा स्थलों में सरस्वती के प्रताप में इतनी वृद्धि होती है कि शौचालय तक विद्यामंदिरों में परिणत हो जाते हैं और चोर दरवाजे से प्रवेश कर लक्ष्मी भी विराजने लगती है। आलम यह है कि किसी-किसी परीक्षा-कक्ष में परीक्षार्थियों की आँखों से बरसते तीरों को फौलादी सीने पर झेलता निरीक्षक रणभूमि में डटा रहता है। उसकी शहादत का आखिर क्या मोल है? जो डिग्रियों के रास्ते में आयेगा, वह चूर-चूर हो जायेगा!

धीरे-धीरे सुस्ताता, कछुआ चाल से चलता परीक्षा तंत्र लम्बे अंतराल के पश्चात् परीक्षकों तक पहुँचता है। कुछ को इस दायित्व से मुक्त होने की खूली छूट है तो कुछ पर अतिरिक्त बोझ लाद दिया जाता है। कभी परीक्षकों के निकम्मेपन के प्रशस्तिपत्र पढ़े जाते हैं तो कभी आनन-फानन उनसे माँग की जाती है कि इतनी पुस्तिकाएँ इतने दिनों में जाँच कर दो–गोया परीक्षक हाड़-माँस का पुतला न होकर मशीन हो। स्विच दबाया और नियत समय में फैक्ट्री में इतना प्रोडक्शन तैयार! आजकल अधिकारीगणों की जागरूकता के चर्चे हैं। परीक्षकों की जन्मकुंडलियाँ पढ़ी जा रही हैं और आचार-संहिताएँ घोषित की जा रही हैं। आशा की जानी चाहिये कि इस समुद्र-मंथन के बेहतर परिणाम होंगे।

घरों-परिवारों में परीक्षा उन्माद का रूप धारण कर चुकी है। बच्चा और सारा परिवार एक तनाव की स्थिति में जीते हैं। त्योहारों पर पहरे बैठा दिये जाते हैं। माँ-बाप, घर-दफ्तर के जरूरी कामों को तिलांजलि दे परीक्षा-स्थलों पर योगासन की मुद्रा में बैठे-खड़े रहते हैं। हमारे शास्त्रों में कहा भी तो गया है–''एकै साधै सब सधै।'' बाह्य परीक्षा के साथ आंतरिक मूल्यांकन (इन्टरनल एसेसमेन्ट) एवं वार्षिक परीक्षा के साथ सतत मूल्यांकन के प्रयोग भी शुरु किये गये हैं। आंतरिक मूल्यांकन के लिए स्कूलों में हर विषय में एक 'प्रोजेक्ट' बनाने का प्रावधान किया गया है। इन प्रोजेक्ट फाइलों के लिये सामग्री जुटाने एवं तैयार करने में बच्चों के साथ माँ-बाप भी जुट जाते हैं और कभी-कभी तो विषय के 'प्रोफेशनल' को मोटी रकम देकर फाइलें तैयार करवायी जाती हैं। परिणामस्वरूप ऐसे प्रयास अपने उद्देश्यों तक पहुँचने में असमर्थ रहते हैं, विद्यार्थी यथार्थ ज्ञान (प्रैक्टिकल नॉलेज) को जीवन में उतार नहीं पाते।

शिक्षक की छवि मैली हुई है। कर्त्तव्य पर अधिकार हावी हो गया है। राजनीति और व्यक्तिगत बैर भाव से संचालित होनेवाले शिक्षक विद्यार्थियों के कल्याण को भूल कर अपनी गोटियाँ बैठाने में मशगुल रहते हैं। उनका व्यवहार विद्यार्थियों की मौलिकता और रचनात्मकता को कुंठित कर देता है। कुछ शिक्षक विद्यार्थियों से दूरी बनाये रखना श्रेयस्कर समझते हैं। उनसे विद्यार्थी इतने आतंकित रहते हैं कि न्यायपूर्ण बात कहने में भी हकलाते हैं। जहाँ संवादहीनता होती है, वहाँ दूरियाँ बढ़ती हैं। सीधा-सच्चा-आत्मीय संवाद समस्याओं को सुलझाने में कारगर साबित होता है। नये वेतनमान के साथ शिक्षकों को अनेक नियमों में बाँध दिया गया है। यह ठीक है कि एक मछली तालाब को गंदा करती है, परन्तु शिक्षकों पर तरह-तरह की पाबंदियाँ लगाना उनकी सृजनात्मकता को बंदी बनाना है। मस्तिष्क की उर्वरता-ऊर्जा को प्रशासनिक एवं दफ्तरी कार्यों में खर्च करना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

पाठ्यक्रमों पर पुनर्विचार के तहत कहीं तो ताजी हवा को प्रवेश मिला है और कहीं नवीनता के बहाने अल्पज्ञतावश जरूरी विषयों को भी बदल दिया गया है। एक ओर संस्कृत अध्ययन-अध्यापन की दुर्गति है और दूसरी ओर ज्योतिष विद्या को पढ़ाने के नगाड़े बजाये जा रहे हैं, इतिहास के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। कभी जरूरी एवं नवीन पुस्तकों की खरीद के समय पुस्तकालयों के लिए धन का रोना रोया जाता है और कभी सरकारी अनुदान के तहत पाठ्यक्रम की परिधि के बाहर अवांछित पुस्तकों की भीड़ के कारण पुस्तकालयों में उपयोगी पुस्तकों के लिए स्थान का अभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है। उचित देख-रेख की कमी के कारण न तो शिक्षक और न ही विद्यार्थी पुस्तकालयों का लाभ उठा पाते हैं।

आज़ादी के बाद शिक्षा की सबसे बड़ी समस्या शिक्षा के माध्यम की है। माध्यम का प्रश्न जटिल से जटिलतर होता जा रहा है। भारतीय भाषाएँ अभिशप्त हैं। अंग्रेजी ने उनके अधिकार छीन लिये हैं। हिन्दी, मातृभाषा एवं क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा की बातें पिछड़ेपन की निशानी है। उनके माध्यम से चलने वाले विद्यालय या तो बंद होते जा रहे हैं अथवा अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उन्हें अंग्रेजी माध्यम की वैकल्पिक व्यवस्था करनी पड़ी है। भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षित हाशिये पर डाल दिये गये हैं। इन भाषाओं के विद्वानों का गंभीर चिंतन अपने ही देश में दो कौड़ी का साबित हो रहा है, उसका बाजार में कोई मूल्य नहीं। वे शिक्षक ही विद्वान समझे जाते हैं जो पग-पग पर अंग्रेजी के उदाहरण देकर अपनी धाक जमाते हैं। अंग्रेजी आधुनिकता और प्रतिष्ठा के साथ जुड़ गयी है। अंग्रेजीदाँ ही नौकरियों के लिये चुने जाते हैं, देशज चरित्रों की कोई कद्र नहीं। इस देशज पीड़ा को निदा फाजली ने बखूबी व्यक्त किया है :–

''पहले हर चीज थी अपनी मगर अब लगता है,
अपने ही घर में किसी दूसरे घर के हम हैं।''

हमारे देश के अतिरिक्त किसी भी स्वाधीन देश का बच्चा विदेशी भाषा या अंग्रेजी भाषा से शिक्षारंभ नहीं करता। जापान जैसा उन्नत देश भी अपनी भाषा के माध्यम से चरम ऊँचाइयों का स्पर्श कर पाया है। हमारे देश के उच्चतम शिक्षण संस्थान अंग्रेजी माध्यम से अपने विद्यार्थियों को विश्वोन्मुख बनाने में मगन हैं क्योंकि अंग्रेजी के बिना विश्व की कल्पना नहीं की जा सकती। हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने खुली सम्पूर्ण बहस से हमेशा बचने का प्रयास किया। वोट हिन्दी और प्रांतीय भाषाओं में माँगे और राज्य अंग्रेजी में किया। बुद्धिजीवियों का एक वर्ग अंग्रेजी के माध्यम से लोकतंत्र की लड़ाई लड़ना चाहता है। लोकतंत्र की लड़ाई लोकभाषा के बिना संभव नहीं है। वर्तमान शासन व्यवस्था की भाषा अंग्रेजी है और राष्ट्रभाषा हिन्दी इस व्यवस्था से बाहर है। इस व्यवस्था के टूटे बिना हिन्दी एवं कोई भी प्रादेशिक भाषा सिर उठाकर जी नहीं सकती। भारतीय भाषाओं से कटना अपने परिवेश से कटना है, सामाजिक रिश्तों की गरमाहट का ठंडे होते जाना है।

स्वतंत्र भारत की स्वतन्त्र शिक्षा नीति विकसित नहीं हुई। वह मैकाले के पदचिह्नों का अनुसरण करती हुई नौकरी तक सीमित रही, जीवन से दूर होती गयी। दो-अढ़ाई वर्ष का बच्चा नर्सरी और केजी शिक्षा-व्यवस्था में भेज दिया जाता है – अपने घर, आस-पड़ोस और समाज से काट कर। शुरु से ही उसे एक संकीर्ण घेरे में कैद होने का अभ्यास डाल दिया जाता है। थोड़े बड़े होने पर बच्चे को होस्टल में भेज कर हम विशिष्ट बना देना चाहते हैं। होस्टली या स्कूली शिक्षा के पश्चात् उच्चतर-शिक्षा के लिये विदेश यात्रा की योजनाओं में हम तन-मन-धन समर्पित करने के लिये आकुल-व्याकुल रहते हैं। इस पूरी व्यवस्था में क्या महत्व है भावनात्मक परिवेश का! कितना सटीक कहा था प्रसाद ने :–

''किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निश्शेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश।''

इस तंत्र में संस्कारों का कोई स्थान नहीं। इस खतरे को महसुसते हुए बच्चों को संस्कारित करने के लिये संस्कार-शिविर आयोजित किये जा रहे हैं। इनके महत् उद्देश्य में कोई संदेह नहीं है, परन्तु वर्तमान परिवेश में ये मात्र घटना बन कर रह जाते हैं, जीवन में उतर नहीं पाते। पारम्परिक उत्सव और त्योहार हमें शिक्षित नहीं कर पा रहे हैं, महज कर्मकाण्ड बनकर रह गये हैं। दीपावली के ठीक बाद वाले दिन परीक्षा में बैठनेवाला विद्यार्थी क्या तन-मन से त्योहार को जी पाता है? टी०वी० पर त्योहार मना कर बच्चों को संस्कारित नहीं किया जा सकता। त्योहारों के अनुकूल परिवेश का निर्माण होना चाहिये। स्कूल-कॉलेजों की छुट्टियाँ भारतीय जीवनशैली को दृष्टिगत रखकर तैयार की जानी चाहिये।

देश के महत्वपूर्ण मुद्दों में शिक्षा को सम्मिलित नहीं किया जाता। सकल राष्ट्रीय आय का बहुत छोटा सा प्रतिशत (छः प्रतिशत) शिक्षा पर खर्च किया जाता है। अपने दायित्व से मुक्त होकर सरकार निजी शिक्षण संस्थानों को प्रोत्साहन दे रही है। परन्तु परिवार की आय में बढ़ोतरी करनेवाले बच्चे को विद्यालय भेज पाना एक दुष्कर कार्य है। यदि माँ-बाप भेज भी पाये तो छोटे से कमरे में ठूँसे गये पचास-साठ बच्चों को छः-सात सौ के वेतन पर नियुक्त शिक्षक/शिक्षिका के हवाले कर देना कितना अमानवीय है। भौतिक-शैक्षणिक-मानवीय साधनों के अभाव में ऐसी योजनाएँ दिवा-स्वप्न बन कर रह जाती हैं। ग्रामीण जीवन के प्रति गहरी समझ के बिना शिक्षा के गन्तव्य को पाया नहीं जा सकता। सन् २००१ को नारी सशक्तिकरण वर्ष की संज्ञा दी गयी। रिपोर्टों के आधार पर ६ से १४ वर्ष के बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा के तहत ३८.५२ प्रतिशत लड़कियाँ ही पाँचवीं कक्षा से ऊपर शिक्षित हैं। इस प्रतिशत में कमी का कारण है– लड़कियों पर अतिरिक्त काम का बोझ एवं समय की कमी। ग्रामीण अभिभावक भयभीत हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि स्कूली लड़कियों पर होनेवाले यौन हमलों के विरुद्ध सरकार की ओर से सशक्त कदम नहीं उठाये जाते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकगीत

लोकगीत लोक की धरोहर हैं, किसी व्यक्ति की नहीं। ये केवल शब्दरचना ही नहीं लोक का पूरा शास्त्र लिए होते हैं। उनमें सामूहिक मंगलेच्छा निहित मिलती है। वे अपने मूल में समूह की संरचना भी है। इनमें शब्द भी समूह का, स्वर भी समूह का, ताल, लय, छंद भी समूह का होता है। ये किसी भी समाज, सभ्यता, संस्कृति के दर्पण, रक्षक व पोषक होते हैं। लोक जीवन की सुखद भावनाओं ओर कमनीय कामनाओं के सहारे उन्हें वाणी का रूप मिलता है। एक प्रकार से लोक की गुंजन में कुछ निश्चित शब्दों का जमाव और उनके गायन से लोक का हर्षाव इन गीतों का महत्त्व परिभाषित करते हैं।

लोकगीतों के कई रूप हैं। विभिन्न प्रान्तों में अनुष्ठान, बनभट, उनके प्रयोग गायन समय, गायक कलाकार और अन्य विशेषताओं के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्गीकरण हुए हैं लेकिन मूलतः लोकगीत चार श्रेणी के माने जा सकते हैं–

१) संस्कार सम्बन्धी लोकगीत
२) सामाजिक लोकगीत
३) धार्मिक लोकगीत
४) मनोविनोद के लोकगीत

लोकगीतों की ही कोटि का एक भेद भजन, हरजस, प्रभाती, साख-सबद आदि भी हैं। इन लोकगीतों की प्रभावना और अति व्याप्ति जीवन के प्रत्येक छोर पर देखी जा सकती है। इसीलिए यह मान्यता चली आई है कि बिना गीत के कोई रीत नहीं होती है। भारत में जन्म से लेकर मृत्यु तक लोकगीतों की परम्पराबद्ध शृंखला को देखा जा सकता है। सरलता, समरसता, सरसता के साथ मधुरता और लयबद्धता लोकगीतों के वे गुण हैं जिनके कारण वे शीघ्र ही कंठस्थ हो जाते हैं। लोक जीवन में ये लोकशिक्षण के महत्त्वपूर्ण आधार बने हुए हैं। आधुनिक युग के चिंतकों और प्रचारकों ने भी लोकगीतों की शक्ति का लोहा माना है। आधुनिक माध्यमों की सर्वसाधारण की पहुंच के लिए भी लोकगीतों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई हैं।

इस प्रकार भारत के पारम्परिक लोक माध्यम अपना स्वरूप और विस्तार बनाये हुए हैं। आधुनिकता की चमक में यद्यपि चकाचौंध होकर अपने स्वरूप को खोते जा रहे हैं तथापि इनकी अपनी समृद्ध परम्परा रही है और इसी परम्परा ने इन माध्यमों को कालजयी भी बना रखा है।

संचार लोक व्यवहार का आधार स्तम्भ है। किसी सोच, किसी संकल्प और किसी सृजन को औरों तक पहुंचाने या समष्टिगत करने के प्रयासों में संचार सेतु का कार्य करता है। प्राचीन काल में संचार को प्रथमतः 'नाद' नाम दिया गया और उसकी कल्पना श्रेष्ठ सत्ता या ईश्वरीय रूप में की गई। इसके पीछे धार्मिक भाव चाहे जो रहा हो किन्तु मूलतः विचारों की संप्रेषणीयता ही थी और उसे येन-केन-प्रकारेण एक मन या एक हाथ से अनेक मना या अनेक हस्ता करने का चिंतन मुख्य रहा।

इसी दृष्टिकोण का परिचायक है लोकमाध्यमों के पीछे का सोच। शब्द, वाणी, लिपि और कला-उत्पाद से लेकर अभिनय या प्रदर्शन भी इसी के अंग रहे हैं। इस रूप में आंगिक, वाचिक और कालिक तथा लिखित एवं वस्तुगत सर्जित रूप संचार के मूल स्वरूप कहे जा सकते हैं। लोक माध्यमों में यही अवधारणा निहित मिलती है।

लोक माध्यमों में चाहे लोक-कथा हो, लोकनाट्य हो, लोकनृत्य हो, लोकगीत हो अथवा और कोई लोकशिल्प, वे कहीं न कहीं एक संकल्प और एक विचार को एक से अनेक तक प्रसारित करने का निहितार्थ लिए होते हैं। लोकमाध्यमों के लिए कहा जा सकता है कि वे सामाजिकता के विस्तार का पूरा वाङ्मय लिए होते हैं। इन माध्यमों ने न केवल परिवार और परिवार के बीच ही बल्कि समाज और समाज के बीच सम्बन्धों और संवादों का सिलसिला शुरू किया तथा विभिन्न चीजों, शिल्पों, विचारों, मान्यताओं और आज के सोच से मूल्यों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित संचालित किया।

एक प्रकार से पारस्परिक लोक माध्यम सर्जन से लेकर आलोड़न-बिलोड़न और चिंतन तक की अवधारणा अपने मूल में लिए होते हैं। इसीलिए इन्हें संचयी कहा जाता है क्योंकि ये माध्यम हजारों वर्षों के अनुभवों को अपने में संचित और समाहित किये अपने स्वरूप को सुविधानुसार विकसित एवं वर्धित करते रहे हैं। आज के विचारों ने इन्हें सांस्कृतिक धरोहर कह दिया और यही विचार एक हद तक इन्हें स्थगित और सीमित करने का हथकण्डा ही कहा जायेगा।

यहां विचार यह भी है कि अति यांत्रिक युग में देहाती या लोक माध्यमों को भले ही जंगली, नामसझ या शताब्दियों पूर्व के सोच वाले लोगों के अनुरंजन के अलावा कुछ नहीं माना जाता है अथवा दिन-ब-दिन परिवर्तित होते परिवेश में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन माध्यमों को फैशन की तरह देख लेने की कल्पना बढ़ चली हो परन्तु ग्रामीण या पारम्परिक लोक माध्यम अपने मूल में नई परम्पराओं के जन्मदाता और नये माध्यमों के बीच भी रहे हैं।

इस प्रकार देखा जाय तो आज पारम्परिक लोक माध्यम कई चुनौतियों से जूझ रहे हैं। यह भी सोचा जा सकता है कि कई माध्यम तो अर्थहीन या नकारा करार दिये गये हैं। इसी कारण जहां लोक कलाकारों का अभाव होता जा रहा है वहीं लोगों का अथवा पूरे समुदाय का भी रवैया, दृष्टिकोण बदलता जा रहा है।

पारम्परिक लोकमाध्यम आज के दौर में जिन चुनौतियों से लोहा ले रहे हैं अथवा जिन चुनौतियों से हार मान रहे हैं, वे तीन विचारों पर निर्भर है —

१) बदलाव
  अ) तकनीक के स्तर पर
  ब) जीवन स्तर पर
२) पलायन
  अ) कलाकारों की पराङ्मुखता
  ब) दर्शक या श्रोता समुदाय का दिशा हीन होना
३) दिखावा
  क) आयोजन के नाम पर
  ब) सामुदायिक सोच के स्तर पर

इस प्रकार देखा जाये तो आज पारम्परिक लोक माध्यम सीमित या स्थगित होते जा रहे हैं जबकि इनका विकास और कालक्रम बहुत लम्बा नजर आता है। यह जान पड़ता है कि ये माध्यम सैकड़ों और हजारों वर्षों के कालक्रम में जो अपना स्वरूप तय कर पाये, वह आधुनिक संचार क्रांति के आते ही विगत चार पांच दशकों में बौने और वामनाकार होते होते अंडाकार होते चले जा रहे हैं।

यदि विस्तार से इनके समक्ष उपस्थित चुनौतियों पर नजर डालें तो मुख्य चुनौतियां निम्न जान पड़ती हैं–

इलेक्ट्रॉनिक क्रांति

बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध विद्युत क्रांति के बाद इलेक्ट्रॉनिक क्रांति का रहा और इस दौर में सर्वाधिक विकसित रूप संचार माध्यमों का सामने आया। इस दौर में जहां अति यांत्रिकता बढ़ी वहीं श्रव्य और दृश्य माध्यम भी नवीन रूप और और तड़कभड़क लेकर सामने आये। नब्बे के दशक में संचार माध्यमों का जो स्वरूप सामने आया उसने नागरिकीय मानसिकता यें यह सवाल खड़ा कर दिया कि कल कोई नई तकनीक आने वाली है।

इसका आलम यह हुआ कि इन माध्यमों में भी विकसित, अति विकसित और नव विकसित माध्यमों की रेलमपेल रही और अब सद्य तकनीक अथवा लेटेस्ट टेक्नोलॉजी एक कहावत के रूप में सामने है। संचार माध्यमों में आज रेडियो और दूरदर्शन की बात क्या करें, उपग्रहीय संचार माध्यम सामने हैं और विश्व के किसी भी कोने में होने वाली घटना, दुर्घटना अथवा आयोजन को तत्काल अथवा साथ-साथ किसी अन्य कोने में देखा जा सकता है।

फिल्मों में भी आज कई तकनीकें सामने हैं तथा सदियों पुराने जीवों को भी सजीव और साकार रूप में फिल्माये जाने की आधुनिककृत पद्धतियां सामने आई हैं जिनके मूल में कम्प्यूटर है। आज दूर संवेदी तकनीक भी संचार माध्यमों के साथ है।

इसके विपरीत पारम्परिक संचार माध्यमों के साथ यह विकासक्रम नहीं देखा जा सकता। इसी कारण जमाने की हवा वाले किसी व्यक्ति के सामने यदि पारम्परिक या ठेठ देहात की बात की जाती है तो बेमानी लगाती है।

यह भी एक युगीन सच है कि नवीकृत माध्यमों को अधुनातन करने की दशा में सरकारें और वैज्ञानिक कितना चिंतन और अर्थ नियोजन या अर्थ निवेशन कर रहे हैं उतना पारम्परिक माध्यमों के साथ देखना तो दूर, सोचना भी सम्भव नहीं है।

जीवन शैली में नवीनता

भारत की ही क्या बात करें, विश्व की ही जीवन शैली में एकदम बदलाव आया है। न केवल पारिवारिक सम्पदाओं बल्कि सामाजिक रिश्तों पर भी इस बदलाव का असर देखा जा सकता है। आज की जीवन शैली नवीनता की अनुगामिनी है। परम्परा या पौराणिकता को वह छोड़ देना चाहती है। नवीनता की अनुशायिनी होने से जहां जीवन को अर्थ मिला है वहीं वह अपनी परम्परा से टूटे पत्ते की तरह कट गई है। आज के जीवन के पास पैसा है किन्तु समय नहीं है। वह लोकशिक्षण की बात भूल चुका है जबकि पारम्परिक माध्यम लोकशिक्षण के बहुआयाम लिए उपस्थित होते रहे हैं।

बदलाव के इस दौर ने पारम्परिक माध्यमों पर न केवल आघात किया अपितु उनका सर्वदृष्टि दमन भी किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतियोगितात्मक वातावरण

आज हर क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है। व्यापार, व्यवसाय, उद्यम, चिकित्सा और संस्कारों तक में नवीनता के साथ-साथ प्रतियोगितात्मक भावनाएं देखने को मिल रही हैं। हर व्यक्ति पड़ोसी के मुकाबले अपने को अत्याधुनिक और अति यांत्रिकता से युक्त बताने के उपक्रम में लगा है। ऐसे में पारम्परिक माध्यमों और उनके कलाकारों या संचालकों में प्रतिस्पर्धी मानसिकता का विकास नहीं हुआ है, फलतः वे एक भयंकर चुनौती से जूझ रहे हैं।

यजमानी प्रथा की समाप्ति

पारम्परिक लोक माध्यमों का विकास बहुत हद तक यजमानी प्रथा की देन रहा। लोक कलाकार अपने यजमानों अथवा आश्रयदाताओं के गांव और घर तक जाते तथा उनका अनुरजंन करते हुए लोक शिक्षण का प्रयास करते थे। आज उपभोक्ता संस्कृति का दौर है जिसने यजमानी प्रथा को सदियों पीछे छोड़ दिया है। इस बात को इस दोहे से भी समझा जा सकता है –

वैश्या काते कातणो, भाट करे व्यौपार।
वांका मर गया रातिया अन वांका मरया दातार ।।

इसी कारण लोक कलाकारों में भी अपनी कला के प्रति विरक्ति जागी है। यह एक तरह से न केवल कलाकारों की अपितु निखिल समुदाय की भी पलायनता को दर्शाता है।

साक्षरता का दौर

समाज में कल तक जो निरक्षरता थी वह लोकोन्मुखी भाव से लोक माध्यमों को संरक्षण दे रही थी अथवा यह कहा जा सकता है कि अपने सहज भाव में वह कलाओं को आश्रय दे रही थी किन्तु साक्षरता ने जमाने की हवा का काम किया है और उसने सहजता को असहजता का जामा पहना दिया है। समाज में बेनकाबी बढ़ी और छोटी कलाओं को क्षुद्र करार देते हुए आधुनिकता की डगर पर अपने कदम बढ़ाये हैं।

फैशन परस्ती

पारम्परिक माध्यम फैशन परस्ती की मानसिकता से जूझ रहे हैं। आज परम्परा को फैशन के रूप में देखा जाने लगा है। घरों की सजावट पारम्परिक उत्पादों से की जाने लगी हैं।विद्यालयों, महाविद्यालयों और अन्य संस्कारों के आयोजनों को पारम्परिक प्रवृत्तियों के नाम तो दिये जाते हैं लेकिन वहां बैठा कुछ देखने को नहीं मिलता जैसे कि आज परम्परा के नाम पर घूमर, गवरी, हमेलो, पणिहारी, चिरमी, गणगौर जैसे सांस्कृतिक नामों से आयोजन रखे जाते हैं पर उनमें आधुनिकता अथवा भोंडापन ही देखने को मिलता है। इसे भी एक फैशन परस्ती का रूप कहा जा सकता है कि लोकगीतों के साथ आधुनिक मानसिकता की मांग को आवश्यक करार देते हुए बड़े स्तर पर छेड़छाड़ की जा रही है। एक और जहां इसमें कलाकार की असीमित यशलिप्सा का भाव है वहीं ओडियो-वीडियो निर्माताओं का विपणन और अर्थार्जन का दृष्टिकोण भी देखने को मिलता है। आज हर चीज एक उत्पाद के रूप में देखी जाने लगी है। पारम्परिक कल्पनाएं और पारम्परिक माध्यम इस मानसिकता से बुरी तरह चोट खाये हुए हैं।

अर्थपूंक आयोजन एवं सरकारीकरण

वर्तमान दौर में हर आयोजन अर्थसाध्य हो गया है। बड़े आयोजनों का सरकारीकरण भी होता चला जा रहा है। सार्वजनिक हित के नाम पर लोक कलाकारों को तरजीह नहीं दी जाती और तथाकथित अभिजनों के संगठन, क्लब किसी फिल्म, एलबम के कलाकार के नाम पर सांस्कृतिक संध्या एवं नाइट आयोजित करने की मानसिकता लिए बैठे हैं।

आज छोटे से लेकर बड़े शहर तक उन कलाकारों के आयोजन रखे जाने लगे हैं जो स्क्रीन पर नजर आते हैं। दो चार ठुमकों और मनलुभावने अर्धनग्न नृत्यों की प्रस्तुतियों के साथ-साथ भारी भरकम आर्केस्ट्रा के बीच लोक का अपना साजोसामान बौना जान पड़ता है। एक प्रकार से लोक की और लोकजीवन से जुड़े माध्यमों की आज भारी उपेक्षा होने लगी है। लोक कलाकारों को यदि किसी बड़े आयोजन में बुलाया जाता है तो वे दया के पात्र से ज्यादा कुछ नजर नहीं आते। शादी, जन्मदिन, नामकरण या विवाह-वर्षगांठ के साथ ही सेवानिवृत्ति पर दी जाने वाली पार्टियों में लोक कलाकारों को बुलाना भी एक फैशन हो गया है और वहां भी ध्वनि विस्तारक यंत्रों, सीडी आदि माध्यमों के आगे वे वामनाकार नजर आते हैं।

सरकार ने अपने स्तर पर जहां सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना की वहीं संगीत नाटक अकादमियां, कलाकेन्द्र, लोककला वीथियां भी स्थापित कीं। लोककला मेलों के आयोजन भी शुरू किये किन्तु इनमें भी लोकनृत्य माध्यमों की उपेक्षा ही हुई क्योंकि कलाकार अपना समग्र जौहर नहीं दिखा सकते। वे संचालक अथवा संयोजक के सूत्र में लिपटे संकोची

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तित्व के धारक हो जाते हैं फिर एक विडम्बना यह भी देखने को मिल रही है कि सांस्कृतिक आयोजनों के ठेकेदार पारम्परिक कला साधकों या कलापक्ष परिवारों की उपेक्षा कर डुप्लीकेसी का खेल खेलते नजर आते हैं।

लोक कलाकारों के प्रशिक्षण का अभाव

कल तक बातपोशी, लोकगीतों का गायन, नर्तन, वादन, कथा कथन जैसी कलाओं का प्रशिक्षण कलाकार अपने घर पर ही कर लिया करते थे, आज वह परम्परा नहीं रही। नई पीढ़ी अपनी परम्परा को हेय दृष्टि से देखने लगी। उसे नया कुछ करने की जुगत में एबीसीडी से कार्यारम्भ करना पड़ता है। एक प्रकार से वे अपने पारम्परिक कर्म और धर्म से हीन होकर नवीन अनुशासन में अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं जो न केवल उन्हें महंगा पड़ता है बल्कि पारम्परिक कला माध्यमों पर भी भारी पड़ रहा है।

पिछले कुछ समय से कुछ कला संस्थानों में लोक कलाकारों के प्रशिक्षण की चिंता उठने लगी है किन्तु यह भी एक विडम्बना है कि ये कला प्रशिक्षण समयबद्ध होते हैं जबकि लोककलाकारों के लिए सतत प्रशिक्षण और सुधि-दर्शक समुदाय की आवश्यकता होती है।

लोक कलाकारों को प्रशिक्षण वे लोग देने लगे हैं जो कला रूपों को जानते ही नहीं हैं। आज बड़े शहरों में कई संस्थाएं लोक कला प्रशिक्षण के नाम पर ग्रीष्मकाल आदि अवकाश के समय शिविर आयोजित करते हैं किन्तु उनका परिणाम एक-दो नृत्य तक ही सीमित होकर रह जाता है। अन्य कई माध्यम हैं जिनके प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है यथा पड़गायन, कावड़ वाचन, कथा कथन अथवा बातपोशी, कथा गायन, लोकचित्रायण का अंकन आदि विधाओं के लिए कोई प्रशिक्षण नहीं होते क्योंकि ये बेहद श्रम और समय साध्य कला माध्यम रहे हैं।

इसी प्रकार लोकवाद्यों के वादन के प्रशिक्षण शिविर भी नहीं लगाये जाते। खड़ताल, रावणहत्था, सिंघी, सारंगी, अपंग, गिरगिड़ी, भूगल, डोंसका, मोरचंग, नड़, घोरयू आदि वाद्यों का वादन तो लुप्त ही होता चला गया। माठ वादन की बातें तो देखते ही देखते खत्म हो गई हैं। शादी समारोहों में शहनाई, बांकिया और नक्काड़ा वादन के ओडियो टेप आ गये हैं।

लोककथा उपकरणों का निर्माण रुकना

कल तक जो कलाकार अपने हाथों से पसंदीदा वाद्यों या कला सहयोगी सामान का निर्माण करते थे वे अपनी कला को छोड़ चुके हैं। पुतलीकार, नट, भाट अपने माध्यम स्वयं नहीं बनाते बल्कि बने बनाये सामान से ही अपना काम चलाकार यह कहते सुने जाते हैं कि हमने तो अपनी जिन्दगी जी ली अब आने वाली पीढ़ी खुद अपनी चिंता करेगी क्योंकि आगन्तुक पीढ़ी कुछ नया कर दिखाना चाहती है। सिंघी, सारंगी का निर्माण बन्द हो गया, मोरचंग का वादन और निर्माण थम सा गया है। नड़, अलगौंजे, चंग, तारपी, पावरी, घोरयू, बांकिया, नरसिंगे केवल संग्रहालयों की शोभा होकर रह गये। मशक और अरबी ताण के बाजे अब समारोहों की शोभा नहीं बढ़ाते बल्कि विवाह वाद्यों में भी सिन्थेसाइजर बजाया जाने लगा है जो एक ही वाद्य कई वाद्यों को पूर्ति कर देता है।

बस्सी जैसे काष्ठ शिल्पियों के गांव में कावड़ों, मुखौटों, पुतलियों, गणगौरों, खांडों केवाणों का निर्माण नहीं होता। खांडों को बने हुए वर्षों हो गये। भरावों के शिल्प, गवारियों की कांगातिया आज लोक पसन्दगी से ही जाते रहे। यही कारण है कि 'घाट से गड़ाई' महंगी होने लगी। पड़ों का स्थान पड़क्यों ने ले लिया फिर मुद्रण कला ने भी पड़ पर भारी प्रहार किया। एक प्रकार से मुद्रण ने जहां दुर्लभ चीजों को सरेआम लाकर रख दिया वहीं कलाकारों की उत्पादन क्षमता ओर उदरपूर्ति के माध्यम पर भी भारी चोट की है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पारम्परिक लोकमाध्यम जो कभी अपने अंचल में अपनी परम्परा की साख भरते थे, वे अपनी पहचान ही खोते जा रहे हैं क्योंकि उनके सामने चुनौती, चुनौती न होकर सुरसा की तरह दिन दुगुना रात चौगुना बढ़ने वाला संकटाकार रूप लिए मुंह बायें खड़ा है। ऐसे में यदि पारम्परिक माध्यमों को बचाने के हनुमत् प्रयास नहीं हुए तो केवल चुनौतियां ही नजर आयेंगी और लोकमाध्यमों की केवल बातें ही रह जायेंगी। ■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org